रीतिकाल का उदय : एक पुनरावलोकन

डॉ. सुनिल महादेव चव्हाण
सहयोगी प्राध्यापक एवं शोध निर्देशक,
अध्यक्ष, पदव्यूत्तर हिंदी विभाग,
कला, वाणिज्य आणि विज्ञान महाविद्यालय, लांजा,
ता. लांजा, जि. रत्नागिरी, पिन - ४१६७०१

रीतिकाव्य का कालखण्ड लगभग सं. १७०० से सं. १९०० तक माना गया है। काव्यशास्त्र में रीति का आरंभ भी विवादास्पद ही है। इसका आरंभ आचार्य वामन ने किया था। रीति सिध्दांत के प्रवर्तक आचार्य वामन ने रीति को काव्य की आत्मा घोषित किया है। ''रीतिरात्मा काव्यस्य विषिष्ठ पद रचना रीति :।''[१] काव्य के गुण माधुर्य, प्रसाद और ओज है जिन पर रीति अवलंबित है। इसी कारण वह विषिष्ठ काव्य पद्धति बन जाती है। पर काव्य में रीति को अलग रुप में स्वीकार किया गया। काव्य बोध के लिए आवश्यक विशेषताएँ काव्य रीति कहलाई गयी। शायद इसीलिए उपर्युक्त कालखंड में व्याप्त काव्य की विशेषताओं के आधार पर समूचे काल को रीतिकाल की संज्ञा शुक्ल जी ने दी होगी। अतः रीतियुगीन काव्य का उद्‌भव सहज नहीं हुआ है।

भारत में इ.स. पूर्व एक हजार से या उससे पूर्व ही अध्ययन अध्यापन की व्यवस्था कायम थी । प्राचीन भारत में लगभग १५-१६ विश्वविद्यालय थें। जिनमें सबसे प्राचीन विश्वविद्यालयों के रुप में तक्षशिला, नालंदा, गुणषिला आयोध्या, मदुरा, कुन्दिनपुर व कांची आदि महत्वपूर्ण विष्वविद्यालय रहे हैं। इन विश्वविद्यालयों में १८ पुराण व ६४ कलाएँ पढाई जाती थीं। गुणशिला विश्वविद्यालय में पुरुषों को अर्थात विद्यार्थियों को ७२ विषयों का अध्यापन किया जाता था। जिनमें अनेक एच्छिक विषय थें। तो स्त्रीयों को अर्थात विद्यार्थिनियों को ६४ विषय पढाये जाते थें। इन विषयों की सूची ''वात्सयायन कृत कामसूत्र, कादंबरी, शुक्रनितीकार''[२] से लेनी पडती है। प्राचीन काल के सभी विश्वविद्यालयों में न्युनाधिक रुप में यही विषय पढाये जाते थें। इन्हीं में गीत, वाद्य, नाटय, नृत्य के साथ-साथ पुस्तक वाचन, काव्य समस्या पूरण''[३] आदि विषय प्रमुख रहे हैं। इन्ही काव्यों में रीति तत्व भी समाविष्ट रहा है। जो पीढ़ी दर पीढ़ी संक्रमित होता रहा। वामन का समय भी इसा की आठवी सदि का उत्तरार्ध है। हिंदी साहित्य का 'रीतियुग' विभिन्न शृंगारी रचनाओं की प्रस्तुति है। प्राचीन कई कवियों ने राजाश्रय को अपनाया व धर्माश्रय का त्याग कर दिया। उसी में से जीवन के स्वच्छंद मुक्त उल्लास की अभिव्यक्त के रुप में ''गाथा सप्तशति, आर्या सप्तशति, आमरूक शतक तथा कामशास्त्र जैसे ग्रंथो की रचना हुई।

सच पुछिए तो प्राचीन भारत का सही इतिहास लेखन सुचारु रुप से नहीं हुआ है। कहीं न कहीं इस प्राप्त इतिहासों की किताबों में दो शब्दों के बीच और दो पंक्तियों के बीच बहुत कुछ गायब सा लगता है और हमारी सोच कुंद हो जाती है। शायद इसीलिए इतिहास के बारे में मात्र कल्पना करने के और कोई चारा नहीं रह जाता। आश्चर्य तो तब होता है जब चणक जैसे छात्र तक्षशिला जैसे विश्वविद्यालय में पढते हैं। तो उनका नाम पता जाति और उनके द्वारा लिखा साहित्य भी उपलब्ध होता है। पर चाणक्य नीति के अलावा और कोई रचना या अपने काल का चणक द्वारा चित्रित परिवेश, इतिहास, अन्य रचनाकारों का बहिसाक्ष के रुप में इतिहास भी नदारद है। ध्यान देने लायक बात हैं कि चीनी यात्री ह्युएनत्संग भी नालंदा जैसे विश्व प्रसिद्ध विश्वविद्यायल में पढ़ने के लिए चीन से अफगान के रास्ते भारत आए। और उनकी प्राप्त रचनाओं में हम हमारी नष्ट हुई विश्वविद्यालयीन परंपरा की जड़े ढूँढ़ते हैं, यह कितनी विड़ंबना की बात है। बात यही खत्म नहीं होती। मूल प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। चणक जैसे इक्के दुक्के की ही रचनाएँ कैसे उपलब्ध है और यहाँ पढ़ने वाले ओर पढ़ाने वाले तमाम छात्र गुरुओं का साहित्य ही कैसे जलाकर नष्ट किया गया। यह भी सोचने की ही तो बात है।

उपलब्ध साहित्य के आधार पर हम तथ्य तक पहूँच सकते हैं कि तात्कालीन काल में विश्वविद्यालयों में जहाँ ७२ और ६४ विषयों का अध्ययन होता था। इसमें - नख-शिखांत कलाएँ पढ़ाई जाती थीं। ''विशेषकच्छेद्य (सौंदर्य प्रसाधनों द्वारा चेहरे पर की जानेवाली रंग कला), दशन वसनांग राग (दाँत, शरीरावयव, वस्त्रादि पर रंग कर्म कला),

शेखरापीड़योजन (फूल, आभूषणों को सिर पर परिधान करने की कला), कर्ण पत्र भंग (कानों के पास के गाल रंगाने की कला), गंधयुक्ति- (सुगंधी द्रव्य बनाना), भूषण योजन-(विविध अवयवानुरुप अलंकार निर्माण व अवयवों को अलंकारों से सुशोभित करने की कला), कुचमार योग(स्त्रीयों के वक्ष स्थल सुडौल रखने की कला) कशमार्जन कौशल(केशभूषा प्रकार) वस्त्रगोपन (सादे वस्त्रों को रेशमी चमक देना) जैसे विषय व उनके प्रात्यक्षिक भी पढाये जाते थें।"[४] नखच्छेद्य (सौंदर्य विर्धक पद्धति से नाखून काटना) इनके अलावा लेखन, पठन, प्रयोगोपाय, व्याकरण, छंद, रस, अलंकार, शिक्षा, निरुक्त (व्युत्पतिशास्त्र) निघण्टु (शब्दशास्त्र कोश) ज्योतिष, विज्ञान तथा मंत्र, तंत्र, यंत्र, जैसे विषयों की अध्यापन भी किया जाता था। अतः ऐसी लंबी आदर्श परंपरा भारतीय प्राचीन साहित्य में रही है। नतीजा, ऐसी विद्यापीठीय उर्वर भूमि से लहलहाता भारतीय प्राचीन साहित्य सृजन हुआ है इसमें दो राय नहीं है।

दसवी सदि तक बौद्ध-सिद्ध साहित्य अपनी चरम पर पहूँचा हुआ था। भारतीय प्राचीन विश्वविद्यालय बौद्ध धर्म साधना केंद्र थें ही उनके विहार व बौद्ध मंदिरों में भी साधना, उपासना, आदि कायम थी। इन विश्वविद्यालयों में उपर्युक्त विषयों के साथ-साथ वेद, शिल्प, चित्र, इतिहास, पुराण, काव्य, शरीर विज्ञान, शस्त्र कला, दर्शन, कामशास्त्र, आयुर्वेद, नीतिशास्त्र, राजसत्ता, अर्थशास्त्र जैसे विषयों का भी अध्ययन अध्यापन किया जाता था। इसी तरह रीति निरुपण, शृंगार के संयोग-वियोग पक्षादि का समग्र अध्यापन भी चलता था। सिद्ध साहित्य में तभी तो शृंगार, हास्य आदि का प्रभाव रहा है। इस कारण अनेक देशी विदेशी लोगों ने इन कलाओं का समग्र अध्ययन कर उसे काफी उछाला और इन कलाओं को सीख कर उन्हें अपने देश ले गये। परंतु बाद में, लगता है आधुनिककालीन अध्ययन कर्ताओं ने इस पक्ष पर विशेष रुप से ध्यान नहीं दिया है और अपनी-अपनी सोच के अनुसार बौद्ध साधना में अनाचार, बाह्याचार व मंत्र-तंत्र की सिद्धि बढ़ने की बात की है। जबकि वहाँ इन विषयों-कलाओं का अध्ययन अध्यापन ही होता था। और तत्कालीन अनेकों ने इस कला का सम्मान व संवर्धन किया नज़र आता है। यहाँ पढनेवाले विद्यार्थी सभी ७२ विषयों में पारंगत होने के लिए १५ साल तक यही रहते थें। बौद्ध कालीन सुप्रसिद्ध वैद्य जीवक वैद्य कला सात साल तक सिखता रहा। फिर भी गुरुजी उसकी संपूर्ण शिक्षा के बारे में कुछ भी बोलते न देख कर उसने ही पुछा था, "मेरी शिक्षा कब खत्म होगी गुरुजी ?"[५] अतः ऐसे विश्वविद्यालयीन अध्ययन पद्धति पर व इन्हीं विश्वविद्यालयों में पढ़ कर नवनिर्मित संप्रदाय की स्थापना कर काव्य सृजन करनेवाले सिद्ध संप्रदाय पर यह बाहयाचार व तंत्र-मंत्र का आरोप मिथ्या ही लगता है। ऐसे सिद्ध साहित्य में शृंगार वर्णन का एक उदाहरण दृष्टव्य है-

"राग देस मोह लाइअ छार। परम भीख लवए मुत्तिहार।
मारिअ सासु नणंद घरे शाली। माअ मारिआ, कन्ह भइल कबाली ।।"[६]

प्राचीन विश्वविद्यालयों में गूढ़ भाषा की कला भी पढ़ाई जाती थी। जिसका अर्थ शायद बाद की पीढ़ी या तत्कालिन वे लोग समझ नहीं सकते थें, जो इस भाषा से अनभिज्ञ थें। सिद्धों की भाषा जितनी जन मुखी थी उतनी ही गूढ़ भी। इसलिए सिद्ध काव्य का अनेकों ने विपर्यास ही किया है। लगता है ठिक से परवर्ती इतिहास के अध्येताओं ने सिद्ध काव्य के मूल को जाना ही नहीं। आधुनिक इतिहास के अध्येताओं ने चाहे जितनी भी बौद्ध-सिद्ध साहित्य की निंदा की है पर इससे एक बात स्पष्ट होती है कि बौद्ध-सिद्ध साहित्य में शृंगार वर्णन हैं। वैसे सिद्ध साहित्य में विविध प्रवृत्तियाँ पायी जाती हैं। उन्हीं में से एक शृंगार अर्थात रीति भी हैं। इसी प्रवृत्ति का परिचय कालीदास, बाणभट्ट, श्रीहर्ष भोज, सोमदेव, जयदेव आदि की काव्य रचनाओं में आगे चलकर पाया जाता हैं।

आश्चर्य और मजे की बात यह रही कि, भारतीय जनता आज भी अपने अतीत को न पढ़ना, समझना और न जानना चाहती हैं। वे अपनी ही सभ्यता संस्कृति से कटे और आक्रांताओं द्वारा विकसित संस्कृति के संवर्धन में लगे और आपस में झगड़ते रहे हैं। आठवी-दसवी सदि तक अपभ्रंश ने अपना साहित्य पद प्राप्त किया। अपनी साहित्यिक चरम सीमा प्राप्त करने के साथ ही इस भाषा में विविधांगी और श्रेष्ठ रचनाएं निर्माण हुई थीं। इससे एक बात स्पष्ट है कि इस भाषा में उत्तमोत्तम साहित्य व साहित्यकार के कारण तत्कालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक परिस्थितियाँ चित्रित हुई हैं। अपभ्रंश में बौद्ध वैचारिकी अपनी चरमोत्कर्ष पर थीं। साथ ही इसी में नीतिगत, शृंगारी, भक्तिगत व राजनीतिक, साहित्यिक प्रवृत्तिगत रचनाओं का सुंदर सृजन हो रहा था। इस काल का साहित्य तीन रुप में रचा गया - राज्याश्रित, धर्माश्रित और लोकाश्रित। संस्कृत साहित्य विभिन्न राजदबारों में संरक्षण पाकर आगे बढ़ा। अपभ्रंश साहित्य पश्चिम में जैन धर्म का आश्रय पाकर और पूर्व में सिद्धों ओर नाथों का संरक्षण पाकर आगे बढ़ा। इस युग में केवल 'संदेश रासक' ही एक ऐसी प्रामाणिक ओर श्रेष्ठ

कोटि की कृति रची गयी जो लोकाश्रित थी।"[७] तो आमीर खुसरो की पहेलियाँ या मुकरियाँ विषुद्ध लोक-परंपरा की उपज है और 'विद्यापति की पदावली' लोकगीतों का अनुसरण करती दिखाई पड़ती हैं।

हिंदी आरंभिक काल में इन्हीं उपर्यूक्त भाषा, साहित्य से प्रसृत होती गयी और दसवीं-बारहवीं सदि तक उसने अपना रुप धरना शुरु किया था। इसी काल में जिसे आदिकाल कहा जाता है, विविध प्रवृत्ति परक रचनाएँ निर्माण हो रही थीं। इनमें सिद्ध, नाथ, जैन रासो, लौकिक और फुटकर आदि प्रकार का साहित्य काफी विकसित हो चुका था। जहाँ विशाल बौद्ध संप्रदाय की साहित्यिक प्रवृत्तियों में से एक सिद्ध साहित्य प्रणाली ने सहज साधना के रुप में शृंगार को जोड़ दिया था। वही परंपरा प्राचीन विश्वविद्यालयों में पढ़ाई जानेवाली परंपरा से ही शुरु हुई मालूम पड़ती है।

सिद्ध संप्रदाय की सहज साधना ने जिसे हवा दी थी वह शृंगारी परंपरा 'रासो' काव्यों में काफी फूली फली दिखाई देती है। 'खुमान रासो' जो ९ वी सदि की रचना है वीर और शृंगार रस से ओत प्रोत है। " इसमें युद्ध, विवाह, नायिका भेद, संयोग-वियोग षट्-ऋतु आदि के सरस, मधुर वर्णन विस्तृत रुप से प्राप्त होते है।"[८] पृथ्वीराज रासो' में भी शृंगार भरा पड़ा हैं । हालाकि इस काव्य में शृंगार नैतिक मर्यादाओं में ही चित्रित हुआ हैं। 'बिसलदेव रासो' आदिकालीन शृंगार प्रधान रचना रही है। जो संयोग और वियोग शृंगार के अनुपम चित्रों की चित्रशाला है। इन रासो काव्यों में वीर-शृंगार दोनों रस समांतर चित्रित होते रहे हैं। कहीं वीर रस प्रमुख तो कहीं शृंगार रस प्रमुख बनता नज़र आता है। प्रकृति चित्रण संयोग-वियोग रुप में उद्दीपन के लिए पाया जाता है। "संयोग में प्रायः षट्-ऋतु वर्णन तथा वियोग में 'बारहमासा' का विधान किया गया है, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित है।"[९]

आदिकालीन लोकाश्रित कवियों ने अपने काव्यों में लौकिक साहित्य सृजन की एक सशक्त परंपरा कायम की है। इनमें 'ढोला मारु रा दूहा' राजस्थानी प्राचीन प्रणय प्रधान लोकगाथा काव्य काफी प्रसिद्ध रहा है। निम्नांकित दोहा इसी की साक्ष देता है।

"सोरठियो दूहा भलो, भलि मरवण री बात ।
जोवन छाई धन भली, ताराँ छाई रात ।।"[१०]

'वसंत विलास' इसी समय की एक और बहुचर्चित शृंगार प्रधान अनुपम रचना है। जिसमें वसंत ऋतु के मादक वातावरण का युवक युवतियों पर पड़नेवाले मादक व उत्तेजक प्रभाव का मनोहारी चित्रण किया हैं। "हिंदी काव्य में शृंगार रस के दोहों की परंपरा में इस रचना को 'ढोला मारु रा दूहा' तथा 'बिहारी सतसई' के शृंगारिक दोहो के बीच की कड़ी माना जा सकता है।"[११]

आदिकालीन इस शृंगारी परंपरा का प्रभाव भक्तिकालीन संत कवियों-सगुण और निर्गुण पर न्यूनाधिक रुप में पड़ा हैं। तुलसी, सूर, मीरां के पदों में इसकी झाँकी देखी जा सकती है। जो माधुर्य या मधुर रस के साथ ही सख्य भक्ति के रुप में चित्रित हुई है। परंतु इन कवियों के सम्मुख भक्ति की मर्यादा रही। इसलिए वे उस मर्यादा का उल्लंघन नहीं कर पाये। फिर भी आध्यात्मिक शृंगार, आध्यात्मिक प्रेम, देव रति, आदि के रुप में सगुण-निर्गुणियों ने शृंगार को चित्रित किया ही है। रीतिकाल तक आते-आते यह परंपराएँ काफी प्रौढ़ बनी। इसलिए तो रामचंद्र शुक्ल इस काल को प्रौढ युग भी मानते हैं। उनके अनुसार -"हिंदी काव्य अब पूर्ण प्रौढता को पहुँच गया था।"[१२]

आदिकालीन कवियों का उद्देश्य मूलतः आराध्य प्रशंसा ही रहा था उसी तरह रीतिकालीन कवि भी आराध्य की प्रशंसा में ही जुटे रहें। परंतु जहाँ आदिकालीन कवियों का उद्दश्य कथ्य को काव्य के विविधांगों में चित्रित करना था वही रीतिकालीन कवियों ने रीति निरुपण के साथ शिल्प पर काफी ध्यान दिया। इसी के साथ उनके पूर्ववर्ती काव्य सृजन की एक लंबी परंपरा कायम रही है। समय-समय पर उसमें नवनवीन प्रयोग व सुधार होते आये हैं। इनका लाभ भरपूर मात्रा में रीतिकालीन कवियों ने उठाया। साथ ही काव्य निरुपण, अध्ययन, अध्यापन की परंपरा भी इस काल तक आते आते काफी विकसित होती गयी थीं। 'शृंगार' या 'रति' मानव की मूल प्रवृत्ति रही हैं। इसी कारण विश्व के समस्त साहित्य में शृंगार रस की कविता सतत सृजन होती रही हैं। "इसी नैसर्गिक विशेषता के कारण हिंदी साहित्य में सभी कालों में, विविध रुपों में शृंगारी प्रवृत्ति परिलक्षित होती हैं।"[१३]

भक्तिकाल में जहाँ एक ओर राम और कृष्ण काव्य में शृंगार का अंतर्भाव हो रहा था वही दूसरी ओर "जीवन के स्वच्छंद एवं मुक्त उल्लास को व्यक्त करने वाला सप्तषति साहित्य - गाथा सप्तषति, आर्या सप्तशति, आमरुक शतक तथा कामशास्त्र के अनेक ग्रंथो में बिखरी हुई शृंगार रस की सामग्री, रीति कवियों ने संग्रहित की।"[१४] मोहनलाल मिश्र कृत 'शृंगार सागर' की गणना भी भक्तिकालीन रीति ग्रंथों में की जाती हैं। इसमें रस व नायिका भेद निरुपन है। 'अष्टछाप' के कवि नन्ददास की 'रसमंजरी' नायिका भेद संबंधी रीति ग्रंथ हैं।

जिसकी रचना भानुदत्त की 'रसमंजरी' के आधार पर की गयी हैं।

कुछ लोग कवि केशवदास को रीतिकाल का प्रवर्तक मानते हैं। उनकी '' 'रसिक प्रिया' सं. १६४८ में प्रकश में आई।''[१५] परंतु उनसे भी पूर्व मोहनलाल की 'शृंगार सागर' सं. १६१६ में रची गयी थी। ''केशवदास के पूर्व के 'करुणाभरण', 'श्रुतिभूषण', 'भूप भूषण' का विशेष महत्व है। ये तीनों ग्रंथ अलंकार निरुपण से संबंध रखते हैं। इनमें रीति परंपरा का निर्वाह है। इनका कालखंड सं. १६३७ हैं। इनके बाद बलभद्र मिश्र का 'नखशिख' (१६४०) रहीम का 'बरवैनायिका भेद' (१६४०)''[१६] आदि ग्रंथ भी केशवदास के पूर्व ही रीति काव्य निरुपन व शृंगार की लंबी पृष्ठभूमि तैयार करने में सार्थक भूमिका निभाते हैं। रीति काव्य धारा के उद्‌भव के जो कारण बताये जाते हैं वे सर्वथा अयोग्य लगते हैं। रीति ग्रंथों का निर्माण तत्कालीन कवियों की नीजी ज़रुरत और उनका नवीन काव्य सृजन है। मुगल सत्ता की स्थापना या देशी राजाओं का मदिरा-मदिराक्षी में मशगुल होना आदि केवल भ्रम पैदा करने मात्र के लिए ही दिए गए कारण लगते हैं। तुलसी ने जहाँ लिखा है-

''खेती न किसान को, भिखारी को न भीख बालि,
बनिक को न बनिज, न चाकर को चाकरी ।
जीविका विहिन लोग, सीद्यमान सोच बस,
कहै एक- एकन सौं, कहाँ जाई का करी ।।''[१७]

दर असल जब-जब पंड़ितों-पुरोहितों, कवि-आचार्यों को दरबारों में अर्थ-सम्मान मिलना बंद हो गया या कम हो गया तब-तब उनकी समस्या सार्वजनिक बनी हैं। जहाँ उन्हें राज दरबारों में अर्थ - सम्मान मिला उन्होंने राजप्रशस्ति में अपनी कलम ही तोड़ दी हैं। लगता है अपनी प्रशंसा सुन कर या अपने जीवन पर लिखा चरित्र ग्रंथ पाकर वे ऐसे कवियों को दरबारी कवि या आचार्य बनाकर उनके जीविकोपार्जन की व्यवस्था करते थें। इसलिए साधारण से साधारण कवि भी अपने जिविकोपार्जन के लिए दरबारों के चक्कर काटते व राजाओं से दरबार में आश्रय की याचना करते थें। ऐसे कवि राजाओं का विश्वास संपादन कर उनके नीजी-जीवन में झाँकते दखल देते दिखाई देते हैं। तभी तो उनके भोग-विलास की बातें उन्होंने लिखी हैं। कितना भी भोग विलासी राजा हो या बादशाह, वह दरबारों में रति क्रीड़ा की बात सोच भी नहीं सकता। तो उन्हें इस प्रकार ऐयाशी मानना उचित नहीं हैं। औरंगजेब या अकबर जैसे बादशाहों के बारे में किसी भी कवि ने उनकी ऐयाशी के बारे में लिखा नहीं मिलता क्योंकि इन्होंने इन कवियों को दरबारों तक ही सिमित रखा, अंत:पुरा तक आने नहीं दिया। वही बात महाराजा छत्रपति शिवाजी, महाराजा छ्त्रसाल जैसे महाराजाओं की भी हैं। इन महाराजाओं के बारें मे भी किसी कवि ने उन्हें सुरा-सुंदरी में लिप्त नहीं कहा। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने भी इन कवियों को दरबारों तक ही सीमित रखा। अत: रीतिकालीन कवियों ने लगता है, 'जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि' की उक्ति सार्थक करना ही अपना मकसद बना लिया था। 'अर्थ मिले तो राजाओं की प्रशंसा और ना मिले तो निंदा' यही शायद इन कवियों का समिकरण बना था।

दूसरी ओर कवियों में ही एक होड-सी लगी स्पष्ट दिखाई देती हैं कि अधिकाधिक प्रशस्तिपरक, मनोरंजक, शृंगारी काव्य रचनाएँ कर दरबारों में स्थान प्राप्त करना और राजाओं का विश्वास संपादन कर आचार्य का पद हासिल करना। जहाँ विद्यापति जयदेव जैसे कवियों ने राधा कृष्ण को नहीं बख्शा। उनके रति क्रीडा का वर्णन ऐसे किया है मानो वे प्रत्यक्ष दर्षी हों। इन्हीं से प्रेरणा लेकर केशवदास, बिहारी, देव, मतिराम, पद्‌माकर आदि कविता करते नज़र आते हैं। अत: इनके सामने राजा महाराजा क्या चीज हैं। एक और बात यह भी है कि राजा-महाराजा और बादशाह-शहंशाह कह कर उनका सार्वत्रिकरण व साधारणिकरण किया गया हैं। ताकि किसी एक पर आरोप ना हो। इसी तरह इन कवियों ने जबसे राजदरबारों में अपनी रोटी ढूँढ ली थी तबसे लोक जीवन और उनकी समस्याएँ हवा होती नज़र आती है।

भक्तिकाल के कालखंड में भी राजा-महाराजा थें, पर सर्वहारा वर्ग के कवियों ने सामाजिकों की वेदना समेत ईश्वर भक्ति समर्पित भावना से व्यक्त कर भक्ति का अलख जगाया। यही उनका भक्ति आंदोलन था। उन्होंने तो राजदबारों में बुलाने पर भी जाना उचित नहीं समझा क्योंकि उनका उद्देश्य जनचेतना, समाज सुधार, कुप्रथा, कुरूढीयों का विरोध, सामाजिक एकता व सौहाद्रता के लिए काव्य सृजन करते हुए भक्ति का संदेश देना था। इस काल के किसी भी कवि ने राजा-महाराजा, या बादशाह-शहंशाह के अंत:पुर में झाँकने की इच्छा नहीं की और ना ही उनकी भद्‌दी शृंगारिकता की बात की है। तो रीतिकाल में ही इतनी शृंगारिकता काव्य में कैसे पनपी ?

भूषण जैसे कवि रीतिकालीन होने के बावजूद केवल महाराजाओं की वीरता की ही प्रशंसा करते हुए प्रशस्तिगात लिखते हैं। पर जिन कवियों ने शृंगार काव्य लिख कर अश्लिलता की हदें पार कर, कविता व भक्ति के नाम पर

ईश्वरों (राधा-कृष्ण) के वस्त्र तक उतारे हो ऐसे कवियों से आज के आधुनिक कवि प्रेरणा पा कर अर्थ और सम्मान प्राप्त कर रहे हैं।

संदर्भ सूची

१) रीति काव्य धारा - डॉ. रामचंद्र तिवारी, डॉ. रामफेर त्रिपाठी - पृष्ठ क्र. ०१
२) भारतातील प्राचीन विद्यापीठे - मो.दि. पराडकर - पृष्ठ क्र. १६
३) भारतातील प्राचीन विद्यापीठे - मो.दि. पराडकर - पृष्ठ क्र. १६
४) भारतातील प्राचीन विद्यापीठे - मो.दि. पराडकर - पृष्ठ क्र. १७
५) भारतातील प्राचीन विद्यापीठे - मो.दि. पराडकर - पृष्ठ क्र. ११
६) हिंदी साहित्य का इतिहास - रामचंद्र शुक्ल - पृष्ठ क्र. ०७
७) साहित्यिक निबंध - राजनाथ शर्मा - पृष्ठ क्र. ०७
८) हिंदी साहित्य का आदिकाल- डॉ. सुबोधचन्द्र सक्सेना - पृष्ठ क्र. ८१
९) हिंदी साहित्य का आदिकाल- डॉ. सुबोधचन्द्र सक्सेना - पृष्ठ क्र. ८२
१०) हिंदी साहित्य का आदिकाल- डॉ. सुबोधचन्द्र सक्सेना - पृष्ठ क्र. ८४
११) हिंदी साहित्य का आदिकाल- डॉ. सुबोधचन्द्र सक्सेना - पृष्ठ क्र. ८६
१२) हिंदी साहित्य का इतिहास - रामचंद्र शुक्ल पृष्ठ क्र. १२९
१३) रीति काव्य धारा - डॉ. रामचंद्र तिवारी, डॉ. रामफेर त्रिपाठी - पृष्ठ क्र. ०३
१४) रीति काव्य धारा - डॉ. रामचंद्र तिवारी, डॉ. रामफेर त्रिपाठी - पृष्ठ क्र. ०२
१५) हिंदी साहित्य का इतिहास - डॉ. रमशचंद्र शर्मा - पृष्ठ क्र. १७६
१६) रीति काव्य धारा -डॉ. रामचंद्र तिवारी, डॉ. रामफेर त्रिपाठी - पृष्ठ क्र. ०४
१७) हिंदी साहित्य; युग और प्रवृत्तियाँ -शिवकुमार शर्मा - पृष्ठ क्र. २३०

Aayushi International Interdisciplinary Research Journal
ISSN 2349-638X
www.aiirjournal.com